

ध्यान व्यक्तिगत नहीं हुआ करता, न ही यह सामाजिक होता है; यह दोनों का अतिक्रमण करता है, उनके पार जाता है, और इसलिए इसमें दोनों का समावेश है। यही तो प्रेम है : प्रेम का खिल उठना ही ध्यान है।

जे. कृष्णमूर्ति  
'द ओन्ली रेवोल्यूशन' से

## जे. कृष्णमूर्ति परिसंवाद

वर्ष : 8 अंक : 1

सितंबर 2013

**कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया**, वाराणसी की त्रैमासिक हिंदी पत्रिका  
सितंबर, दिसंबर, मार्च एवं जून में प्रकाशित

संपादन : विजय छाबड़ा

सहयोग : अरविंद शुक्ल

कृष्णमूर्ति साहित्य :

पृष्ठ संख्या

जीना क्या है?

4

बीच के पन्ने

16-17

मंथन और संवाद :

यह ब्रह्मांड ही ध्यानावस्थित है

24

---

वार्षिक शुल्क : रु. 100.00

दो वर्ष रु. 175.00

पांच वर्ष के लिए : रु. 400.00

आजीवन रु. 1000.00

## संपादकीय

सहज सुनना, सहज अवलोकन, सहज सीखना यानी इन सभी क्रियाओं में संचय की, जमा करने की, सँजो कर रखने की प्रवृत्ति का न होना, क्या इसका हमारे जीवन में कोई महत्त्व है; और यदि है तो क्या यह हमारे दैनिक जीवन के क्रियाकलाप में हो पाता है? यह जानते हुए भी कि जानकारी की, ज्ञात की सामग्री प्रज्ञा की ओर नहीं ले जाती, बल्कि हमें अपने ही दायरे में कैद रखती है, हम छवि बनाने की निरर्थकता को, आसक्तिजनित विकृति को क्यों नहीं पहचान पाते?

क्या यह नहीं लगता कि ऐसा सुनना, देखना, सीखना— ये सब जीने की कला की अभिव्यक्तियां हैं, उसके आयाम हैं जिन्हें वाकई कोई सिखा नहीं सकता, पर हर कोई सीख ज़रूर सकता है, बशर्ते हम स्वीकार-नकार या विचारों के दो सिरों के बीच भटकने के बजाय जांच-पड़ताल में, छानबीन में, सच्चाई का पता लगाने में डटे रहें, इंद्रियों के द्वार खुले रखकर?

इस अंक में जे. कृष्णमूर्ति से एक इतालवी विद्वान कार्लो बोल्ड्रीनी द्वारा दिसंबर 1982 में लिया गया एक साक्षात्कार भी शामिल है।

## जीना क्या है?

जैसा कि हम पिछले सप्ताह कह रहे थे, हमें सुनने की कला, देखने की कला और सीखने की कला को सीखना होगा। सुनने का मतलब यह नहीं कि आप जो कुछ सुन रहे हैं अपनी पुरानी आदत के मुताबिक उसकी अपने हिसाब से व्याख्या कर डालें; और इसका मतलब खाली यह जान पाने की कोशिश करना ही नहीं कि वक्ता क्या कह रहा है, बल्कि आपको अपने विचारों को अवधानपूर्वक सुनना होगा, आपको अपनी भावनाओं को, अपनी प्रतिक्रियाओं को सुनना होगा, उन्हें बदलने की, दबाने की कोशिश किए बिना, उन्हें बस केवल गौर से देखना होगा। बेशक सुनने की अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका है, अगर आप संजीदा हैं और बहुत ध्यानपूर्वक, धीरज और शांति से सुनने के लिए तैयार हैं।

देखना भी एक कला है, सिर्फ अपनी आंखों से ही नहीं, दृष्टि की प्रतिक्रियाओं के साथ भर नहीं, बल्कि शब्दों के परे भी देखना, मानो पंक्तियों के बीच अनलिखे को पढ़ पाना, यह देख पाना कि शब्दों के पीछे क्या छिपा है। क्योंकि शब्द यथार्थ नहीं हैं। किसी पहाड़ का वर्णन पहाड़ तो नहीं हो जाता। 'नदी' शब्द वह शै नहीं है जो सजीव है, बह रही है, अपनी समस्त जीवंतता के साथ, उस विशाल जलराशि को स्वयं में समेटे हुए। तो अवलोकन करने का मतलब है बहुत शिद्धत से, खूब ध्यान के साथ, सावधानीपूर्वक देखना।

सीखने की कला एक काफी जटिल मसला है। हम जानकारी का संचय करने, अपने अनुभवों के ज़रिये दिमाग में याददाश्त को जमा करने के आदी हैं, और हमारा सीखना, काम करना ज्ञान के उसी दायरे में होता है। वह ज्ञात अतीत ही है, जिसमें भले ही वर्तमान द्वारा कुछ फेरबदल किया जाता रहता है, पर वह

ज्ञात भविष्य में भी जारी रहता है। उसी दायरे में रहते हुए, उसी क्षेत्र के अंदर हम कर्म के ज़रिये, अनुभव के ज़रिये, उस अनुभव को स्मृति के रूप में संग्रहीत करते हुए सीखते हैं, कार्य करते हैं, दक्षता के साथ या लापरवाही से। हमारा मन हमेशा यही तो किया करता है। जो ज्ञात है, परिचित है, उसके आधार पर हम कार्य करते हैं, सीखते हैं, और फिर उस करने और सीखने को हम अपनी याददाश्त में जमा करते जाते हैं। यही वह चक्र है जिसमें हम लगातार घूमते रहते हैं। अगर आप गौर करें, तो यह एक प्रत्यक्ष तथ्य है।

लेकिन एक सर्वथा भिन्न प्रकार का सीखना भी होता है, ऐसा सीखना जो संचयन नहीं है। उस पर हम आगे चर्चा करेंगे।

जैसा हम कह रहे थे, हमें यह किताब पढ़नी होगी जो कि हम स्वयं हैं। हम, यानी हममें से हर एक व्यक्ति मानवता का सारा कारोबार अपने आप में सँजोए हुए है—यह विषाद, यह पीड़ा, यह सुखलालसा, ये इच्छाएं, ये चिंताएं, ये डर, विभिन्न राष्ट्रीयताएं, संस्कृतियां। यह सब इस किताब में है, यह किताब जो कि हम हैं। यह किताब हमसे भिन्न नहीं। हम ही यह किताब हैं। मेरे विचार में यह समझ लेना बेहद ज़रूरी है : आप जो पढ़ रहे हैं, वह आप ही हैं, आप उससे भिन्न नहीं हैं जो आप पढ़ रहे हैं। और अगर आप जो पढ़ते हैं, उसकी अपनी इच्छा के अनुरूप, अपने डर या मज़े के मुताबिक व्याख्या कर लेते हैं, तब तो आप किताब को पढ़ ही नहीं रहे। वह डर, वह चिंता, वह दुख-तकलीफ आप ही का तो अंश है।

तो अगर आप उस किताब को वस्तुतः पढ़ना चाहते हैं, तो आपको यह देखना होगा कि वह अवलोकनकर्ता, वह पाठक स्वयं वही तो है जो वह पढ़ रहा है। मुझे मालूम नहीं यह बात हम समझ पाए या नहीं। देखने वाला ही देखा जा रहा है। विचार करने वाला ही विचार है। विचार से भिन्न कोई विचारक नहीं। यह एक तथ्य है। कोई अगर यह सोचता है कि उसे कुछ अनुभव करना है, तो जिसका उसे अनुभव होने वाला है वह अनुभवकर्ता

ही है। हममें से अधिकतर यह सोचते हैं कि विचारक विचार से भिन्न है, अतः वह विचारक सदैव विचार को नियंत्रित करने की, आकार देने की, उसे दबाने की और इस किस्म की तमाम कोशिशें करता रहता है। लेकिन जब हम यह वास्तव में देख लेते हैं कि विचार करने वाला ही विचार है, तब विचारक और विचार के बीच का विभाजन समाप्त हो जाता है और इसलिए द्वंद्व का भी अंत हो जाता है।

उम्मीद है कि हम साथ-साथ इस विषय की तहकीकात कर रहे हैं—कि विचारक और विचार अलग-अलग नहीं हैं। विचार विचारक को निर्मित करता है, और विचार ही विचारक को स्वयं से अलग मान लेता है। विचारक तब मालिक बन बैठता है जो विचार को नियंत्रित करने लगता है। और विचार का यह नियंत्रण, यह दमन, उसे अनुशासित करने का प्रयास उस विचारक द्वारा किया जा रहा है जिसे विचार ने ही रचा है; तो स्पष्टतः, विचार ही विचारक है। अतएव विचारक और विचार के बीच कोई विभाजन नहीं है। जहां कहीं विभाजन होगा, वहां द्वंद्व होगा ही—यह नियम है—जैसे मुसलमानों और हिंदुओं के बीच, विभिन्न बौद्ध मतों के अनुयायियों के बीच, कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट के बीच और इसी तरह अनेक समूहों के बीच विभाजन नज़र आता है। जहां राष्ट्रीय तौर पर, धार्मिक तौर पर, विभाजन है, वहां द्वंद्व रहेगा ही। हमारे मन द्वंद्व के अभ्यस्त हो गये हैं। जन्म से मृत्यु तक हमारे जीवन में एक अनवरत संघर्ष जारी रहता है, अंतहीन कलह, निरंतर लड़ाई, स्वयं के भीतर भी और बाहर भी। और यदि किसी को इस तथ्य का बोध हो पाए, केवल शाब्दिक अथवा बौद्धिक स्तर पर नहीं, अपितु वस्तुतः, कि विचारक ही विचार है और इन दोनों के बीच कोई विभाजन नहीं है, तभी व्यक्ति द्वंद्व की प्रकृति और द्वंद्व के अंत को समझना आरंभ करता है।

इस सौँझ हम इच्छा, सुख, दुखभोग और मृत्यु के संपूर्ण अर्थ एवं महत्त्व के विषय में पड़ताल करेंगे। जो व्यक्ति गहरा

सरोकार रखता है मनुष्यता से, मनुष्य की पीड़ा से, उसके संघर्ष से, उसकी हिंसा से, और उस समस्त वेदना से जिससे मनुष्य जीवन में गुजरता है, उसे इच्छा की प्रकृति और संरचना की तहकीकात अवश्य शुरू करनी चाहिए, जैसा कि हम इस वक्त कर रहे हैं। इच्छा की हमारे जीवन में व्यापक भूमिका है। इच्छा; जैसे-जैसे हम शारीरिक रूप से थोड़े अधिक परिपक्व होते जाते हैं, इच्छा के विषय बदलते जाते हैं, लेकिन इच्छा वैसी ही बनी रहती है। वह इच्छा चाहे कार के लिए हो, या स्त्री के लिए हो, या ईश्वर के लिए हो, या फिर संबोधि के लिए हो, इच्छा तो वही की वही है। उदात्त इच्छा और अधम इच्छा जैसा कुछ नहीं होता, बस इच्छा होती है। तो हम बड़ी सावधानी के साथ इच्छा की जांच-परख करने वाले हैं। क्योंकि हमारे लिए, इच्छा, संकल्प, वही जीवन का स्थायी भाव है। संकल्प इच्छा का जोड़-जमा है, और हम संकल्प से परिचालित, कार्यशील होते हैं : “यह मुझे करना ही है” और “यह मुझे करना ही नहीं है”, संकल्प की यह अनवरत गतिविधि इच्छा का सारतत्त्व है। हम साथ मिलकर यह तहकीकात करने जा रहे हैं, सीखने जा रहे हैं—हमें सीखना है, महज़ दोहराना नहीं है; जैसे-जैसे हम जांच करेंगे और आगे बढ़ेंगे, हम सीखते जाएंगे।

हम इच्छा पर गौर करने जा रहे हैं। इच्छा की इस जांच-पड़ताल में ही आप देखना शुरू करते हैं, इसके स्वभाव के बारे में आपको एक अंतर्दृष्टि मिलती है। जब आपको यह अंतर्दृष्टि मिलती है, इसका बोध हो जाता है, तो इच्छा की संरचना के विवरण में जाने की फिर कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि वह तो महज़ शब्दों का खेल होगा। जब आप एक घड़ी को जांचते हैं, उसे खोलकर देखते हैं कि यह कैसे काम करती है, तब आप घड़ी की चाल को समझने की कोशिश कर रहे होते हैं, सीखते हैं कि घड़ी कैसे काम करती है, यह महज़ याददाश्त का मसला नहीं है : जैसे-जैसे यह काम करती है, आप इसकी कार्य-प्रणाली को सीखने-समझने लगते हैं। तो हम इच्छा

पर गौर कर रहे हैं। आप जानते ही हैं इच्छा क्या होती है, ज़्यादातर लोगों को यह मालूम है। आखिर इच्छा है क्या, जिसकी हमारे जीवन में इतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका है? अधिकतर धार्मिक समूह, विभिन्न धार्मिक समुदायों के पुरोहित सदा से कहते रहे हैं, “इच्छा का दमन करो, अथवा उसे रूपांतरित कर दो; यदि तुम ईश्वर की सेवा करना चाहते हो, तो तुम्हारे भीतर इस दुनिया की, किसी स्त्री की, किसी पुरुष की इच्छा के लिए कोई जगह नहीं होनी चाहिए”, वगैरह। यह हमेशा से दमन करने की, इच्छा को अनुशासित करने की प्रक्रिया रही है।

हम इच्छा को दबा नहीं रहे, न ही इससे बच रहे हैं, न इसे बदल रहे हैं। हम तो इच्छा की प्रकृति की जांच-परख कर रहे हैं। इसलिए इससे बचने, इससे पलायन करने के मकसद से इसे देखने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि आप इच्छा की प्रकृति को समझ लेंगे, तो इसे दबाने का या इससे बचने का या फिर इसे तर्कसंगत बनाने का कुछ मतलब ही नहीं रहेगा। तो हमारा प्रश्न है : इच्छा क्या है? साफ है कि यह शब्द वह एहसास, वह प्रतिक्रिया नहीं है। इच्छा शब्द का इस्तेमाल करते समय यह बात बिल्कुल साफ हो जानी चाहिए कि यह शब्द वह प्रतिक्रिया, कुछ चाहने का वह एहसास नहीं है।

हमारे जीवन में सौंदर्य कितना कम है। इस देश में खूबसूरत पेड़ हैं, सुहावने बादल हैं, अद्भुत फूल हैं, और ऑर्किड हैं। हम कभी उनमें सुंदरता नहीं देख पाते। हम सब अपनी परेशानियों से घिरे रहते हैं, समस्याओं से, इच्छाओं और चिंताओं से। हम कभी सूर्यास्त को नहीं निहारते, उस प्रकाश के सौंदर्य से आनंदित नहीं होते। हमने न केवल बाह्य सौंदर्य की कद्र करना बिसार दिया है, बल्कि संभवतः हममें से इने-गिने लोगों में ही आंतरिक सौंदर्य विद्यमान है, वह सौंदर्य जो वस्तुओं पर, तस्वीरों पर, प्रतिमाओं पर, किसी सूर्यास्त पर, या किसी वृक्ष पर निर्भर नहीं करता। वह सौंदर्य तभी आता है जब अगाध प्रेम हो, करुणा हो, किसी विषय के लिए नहीं, बल्कि अपने आप में

इसका वजूद हो। सुंदरता के इस एहसास के बगैर आप सत्य तक कभी नहीं आ सकते।

तो इच्छा क्या है? क्या नज़र में आना, देखना इच्छा की शुरूआत नहीं है?—चाक्षुष बोध, अपनी आंखों से देखना, उन फूलों, उन वृक्षों, उन कारों, उन स्त्रियों को देखना, इस संसार को देखना। यही इच्छा की शुरूआत है—देखना, चखना, सूंघना। किसी वृक्ष, किसी मकान, किसी कार, किसी स्त्री, किसी पुरुष, किसी खूबसूरत बगीचे को देखना, स्पर्श, उससे संपर्क, और तब संवेदन। तब विचार आपकी एक छवि रचता है उस उद्यान के, उस कार के, उस व्यक्ति के, इस या उस चीज़ के मालिक के रूप में। अर्थात्, देखना, संपर्क, स्पर्श, तब संवेदन, और फिर विचार। तब विचार आपकी एक छवि बनाता है कि आप उस कार में बैठे हैं और उसे चला रहे हैं। देखना, संपर्क, संवेदन, विचार द्वारा छवि को निर्मित करना—बस यँ इच्छा का जन्म हो जाता है। जब विचार वह छवि बनाता है, वही इच्छा की शुरूआत है। आप यह समझ गए?

इसे देखिए, इस पर खुद गौर कीजिए, आप पाएंगे यह एक बिल्कुल सीधी-सरल सच्चाई है। देखना, संपर्क, संवेदन, यह स्वाभाविक है। और तब विचार आपकी एक छवि रचता है कि आपने वह नीली कमीज या कोई खास चोगा पहन रखा है, और छवि रचने के उसी क्षण में इच्छा का जन्म होता है। आप इसे खुद देख सकते हैं। आप किसी दुकान के शो-केस में सजी एक अच्छी-सी पतलून, कोई अन्य पोशाक या और कोई चीज़ देखते हैं—देखना, दुकान के भीतर जाना, उसे छूना, तब विचार का यह कहना कि “मुझ पर यह कितनी फबेगी।” आप वह छवि बनाते हैं और उसी क्षण इच्छा का प्रस्फुटन होता है। तो अगर आपने खूब ध्यान से यह बात समझ ली है कि जब विचार वह छवि बनाता है, वही इच्छा का आरंभ है, तब प्रश्न यह है कि क्या उस छवि का अंत हो सकता है?

हो सकता है इच्छा को इस तरह समझने-समझाने के आप आदी न हों। अगर आप इसके अभ्यस्त न हों, तो कृपया ध्यान से सुनें, अपने उन तमाम संस्कारों-मान्यताओं को परे हटा दें जिनका कहना है कि इच्छा बिल्कुल नहीं करनी चाहिए, या इच्छा ज़रूरी है, वगैरह वगैरह। फिलहाल उस सब को एक तरफ रख दें, और इसे बहुत ध्यान से देखें।

अब, क्या ऐसा हो सकता है कि हम देखने, संपर्क, संवेदन के इस तथ्य को समझ-सीख कर सिर्फ इसी के साथ बने रहें, और विचार को वह छवि बनाने ही न दें। यह एक अनुशासन है। और यह अनुशासन है सीखना। अनुशासन के लिए जो अंग्रेजी शब्द है 'डिसिप्लिन', वह लेटिन भाषा के 'डिसाइपल' शब्द से आया है; डिसाइपल यानी शिष्य वह है जो सीख रहा है। हमने उस शब्द को 'अनुकृति बनाने, नकल करने, अनुरूप होने, आज्ञा मानने, अनुसरण करने' के अर्थों में बदल डाला है। ये सभी सीखने का खंडन करते हैं। तो हम इस तथ्य को सीख रहे हैं कि इच्छा तब आरंभ होती है जब विचार संवेदन में हस्तक्षेप करता है। मान लीजिए कल किसी चीज़ में आपको बहुत सुख मिला। वह सुख, वह घटना दिमाग में दर्ज हो गयी है और इच्छा कहती है, "मुझे वही सुख और चाहिए।" जैसा कि हमने कहा, अनुशासन का अर्थ है सीखना। और हम साथ-साथ इच्छा की प्रकृति के विषय में सीख रहे हैं।

मैं आपसे पूछना चाहूंगा कि क्या आप इसे समझ गये हैं, क्या आपने इच्छा की प्रकृति को देख लिया है कि इसका उदय कैसे होता है? अगर आपने इसे एक बार भी देख लिया है, वास्तव में, तो दमन का, इसे नियंत्रित या परिवर्तित करने की कोशिशों का कोई मतलब ही नहीं रह जाता। आप समझ चुके हैं कि इच्छा कैसे उपजती है, और अगर आप उस पल में जागरूक रहते हैं, उस पल में अपना पूरा ध्यान देते हैं जब विचार छवि बना रहा होता है, तब इच्छा को न तो दबाने का, न उससे बचने का, और न ही उसे तर्कसंगत ठहराने का सवाल उठता है।

इच्छा सुख है। हम सब सुख के गुलाम हैं—स्वामित्व का सुख, शक्ति व सत्ता का सुख, किसी बड़े राजनेता की शक्ति नहीं बल्कि वह शक्ति जिसके चलते आप हावी होते हैं अपनी पत्नी पर, अपने बच्चों पर, या अपने नीचे काम करने वालों पर। अधिकांश लोगों को शक्ति की चाहना रहती है, वह सुखलालसा का ही एक रूप है। और हम सुख के, मज़ा लूटने के पीछे लगे रहते हैं। यदि आप एक चीज़ से संतुष्ट नहीं हैं, तो आप किसी दूसरी चीज़ के पीछे चल देते हैं। यदि आप अपनी पत्नी या पति से संतुष्ट नहीं हैं, तो आप उन्हें बदल लेते हैं। और मज़े की, सुख की यह दौड़ आनंद से पूर्णतः भिन्न है।

सुखलालसा मानव-जीवन की अभिप्रेरक प्रवृत्तियों में से एक है। कृपया इसे समझें, क्योंकि बात अब थोड़ी और गंभीर होने जा रही है। सुख को हमें समझना ही होगा—कामवासना का सुख, स्वामित्व का सुख, धन का सुख, उस तपस्वी का सुख जो अपने शरीर को साध लेता है, उसे पूरी तरह नियंत्रित रखने में सक्षम होता है, और विश्वास का सुख। इंसान को सबसे बड़ा सुख वही लगता है जिसमें उसका विश्वास है। वह ईश्वर में विश्वास करता है और यह उसके लिए ऐसा विराट सुख है जिसमें वह व्यवधान पसंद नहीं करता। तो अब हम सुख की प्रकृति पर गौर करने जा रहे हैं।

लेकिन आनंद का अनुभव सुखलालसा से एकदम भिन्न बात है। जब आप एक सुंदर सूर्यास्त को या किसी तेज़ी से बहती हुई नदी को देखते हैं, तो मन तरंगित हो उठता है, सौंदर्य की अनुभूति से खिल उठता है। और तब मन उस पानी के वैभव को, उसमें झिलमिला रहे प्रकाश को, उसकी चपल धारा को दर्ज कर लेता है, और आप कल फिर लौटकर आते हैं, उस नदी को फिर से निहारने, उसी सुख के एहसास को दोहराने की उम्मीद के साथ। आनंद सुखलालसा नहीं है, क्योंकि आप आनंदित हुए और बात खत्म हो गयी। लेकिन जिस क्षण वह घटना दिमाग में दर्ज हो गयी और जो आनंद आपने उठाया था, जिसका सुख

आपको मिला था, उसे फिर से पा लेने की दौड़ शुरू हो गयी, तो यह अतीत का ही सातत्य है, वर्तमान में से गुज़रता हुआ, भविष्य की ओर अग्रसर।

जीवन में यही सिलसिला तो चलता रहता है—इच्छा, सुख का अनुभव। सुख का मतलब है सज़ा को टालना और जो सुखदायी है, मज़ेदार है, उससे चिपके रहना। इसलिए हमारे मन हमेशा सज़ा और ईनाम के दायरे में ही काम किया करते हैं। यदि आप एक धार्मिक व्यक्ति हैं, तो आप सोचते हैं स्वर्ग ही परम सुख है, क्योंकि तब स्वर्ग भलाई करने, सही ढंग से जीने इत्यादि का ईनाम है और यदि आप सही काम नहीं कर रहे हैं, आपकी जगह कहीं और है। तो यह ईनाम और सज़ा हमेशा सामने रहते हैं।

और क्या सुख और इच्छा प्रेम है? 'प्रेम' शब्द का इतना दुरुपयोग, ऐसा अवमूल्यन हुआ है, इस कदर इसे बदनाम किया गया है कि यह अपना सौंदर्य खो बैठा है। हम प्रेम को यौन से, सेक्स से जोड़ देते हैं। तो हमें यह अवश्य पूछ लेना चाहिए : प्रेम क्या सुखलालसा है, ख्वाहिश है? यह सवाल पूछिए, सर। वक्ता यह सवाल पूछ रहा है; आपको यह सवाल खुद से पूछना होगा और ईमानदारी से अपने आप को ही जवाब देना होगा। दुख के सवाल पर गौर करने के बाद हम लोग इसको और गहराई से समझेंगे।

इंसान युगों-युगों से दुख के साथ रहता आया है, और साफ है कि वह दुख का अंत करने में कभी कामयाब नहीं हो पाया। किसी अप्रिय स्थिति को, जिसमें हमें बेहद तकलीफ से गुज़रना पड़ रहा हो, सहन करते रहना, कभी उसका समाधान न ढूँढ पाना—यह जीने के हमारे जाने-पहचाने तौर-तरीकों में से एक हो गया है। दुख-तकलीफ के कई रूप हैं। जिन्हें आप सोचते हैं कि आप प्यार करते हैं, मौत की राह में उन्हें खो देना ही एकमात्र दुख नहीं है; पद-प्रतिष्ठा खो बैठना, गरीबी, अन्याय, स्वयं में एक अपूर्णता का एहसास, निपट अज्ञान की अवस्था

जिसमें इंसान रहता है, ये सब भी दुख ही हैं। हालांकि इंसान ने अंतरिक्ष और पृथ्वी के तथा पदार्थ और तकनीकी के बारे में विस्तृत ज्ञान एकत्रित किया है, लेकिन है वह अभी भी अज्ञानी ही; और यह एहसास एक गहरा दुख उपजाता है।

तो इस तरह हम दुख के साथ रहे चले आते हैं और हमने इसे स्वीकार कर लिया है। हमने यह कभी नहीं कहा : क्या दुख का अंत हो सकता है? और फिर ऐसे लोग भी हैं जो दुख से परे जाने के वास्ते तमाम तरह के उपाय बताते हैं : ईश्वर में आस्था रखिए, अपने उद्धारक में, बुद्ध में, ईसा में या किसी और में आस्था रखिए। इस तरह हम अंतहीन रूप से दुख को सहते रहे हैं। और हम पूछ रहे हैं कि क्या दुख का अंत हो सकता है, कुछ समय के लिए नहीं बल्कि पूरी तरह, ताकि वह मन जो पीड़ा में, दुख में छटपटाता रहा है, उसकी एक सर्वथा भिन्न अवस्था हो, एक भिन्न गतिविधि।

वह मन जो दुख झेल रहा है, साफ-साफ नहीं सोच सकता। जो मन दुख झेल रहा है, उसमें प्रेम नहीं हो सकता, दुख उठा रहा मन किन्हीं काल्पनिक छवियों में पलायन करने लगता है। दुख भोगते हुए मन का किसी से कोई संबंध नहीं रह जाता, भले ही वह किसी के साथ रह रहा हो, और उससे चाहे जितनी उसकी घनिष्टता हो। दुख भोग रहे मन का किसी से कोई संबंध होता ही नहीं। दुखभोग तो अलगाव के गर्त में ले जाता है। फिर व्यक्तिगत दुखभोग ही नहीं, सार्वभौम दुखभोग भी मौजूद है। मानव जाति दुख सहती है—युद्धोत्तर दुख, लाखों-लाख लोगों का, गोद के बच्चे को खो चुकी माँ का अश्रुपात। वह आदमी जो अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरी करना चाहता है, जो बड़ा आदमी बनना चाहता है, लेकिन इसमें असमर्थ है और इसलिए वह दुखी रहता है। हमने दुख से राहत देने वाले समाधान ढूँढ लिये हैं। तो जब भी हम दुख महसूस करते हैं, कोई राहत तलाशने लगते हैं; अब या तो वह राहत वास्तविक हो सकती है या फिर वह कोई भ्रांति होती है, कोई रोमानी, दिग्भ्रमित कल्पना। हम

पूछ रहे हैं : क्या दुख का कोई अंत है? अगर आप एक बौद्ध हैं, तो कृपया यह न कहें, “हां, यह हम पहले भी सुन चुके हैं, बुद्ध ने ऐसा कहा है”। इसके क्या मायने हुए? आप किसी की कही बात को महज़ दोहरा रहे हैं, लेकिन आपने समस्या को सुलझाया तो नहीं। किसी की कही बात को दोहरा देना, भले ही वह कितना भी महान क्यों न हो, दुखभोग का समाधान तो नहीं है। तो कृपया पता लगाएं कि क्या दुख का अंत हो सकता है। दुख के अंत के बगैर करुणा नहीं हो सकती।

व्यक्ति दुख क्यों उठाता है? आप सब जानते हैं दुख उठाना क्या होता है, लेकिन आपने कभी पूछा नहीं कि क्यों, और न इसकी छानबीन की है, किसी पर निर्भर न करते हुए, जैसे बुद्ध पर, कि उन्होंने क्या कहा, या किसी और देश में किसी और धार्मिक नेता ने क्या कहा, उन तमाम बातों पर निर्भर न करते हुए। उस सब को एक तरफ हटा दें, क्योंकि उन्होंने जो कहा है वह सच हो भी सकता है या नहीं भी हो सकता, लेकिन एक इंसान के तौर पर जब आप दुख सहते हैं, और यदि आप उस समस्या को नहीं सुलझाते, उसे खत्म नहीं करते, उसका हल नहीं निकालते, तो जीवन अधिकाधिक यांत्रिक, अधिकाधिक दोहराव भरा और एकदम उथला होता चला जाएगा। भले ही आप पवित्र ग्रंथों का पाठ करते रहें, पवित्र वचनों को दोहराते रहें, लेकिन आपका जीवन सतही बनता चला जाता है, ज़्यादा, और ज़्यादा सतही, जैसा कि हो ही रहा है। अतः इस बात की तहकीकात करना महत्त्वपूर्ण है कि क्या दुख का अंत हो सकता है।

दुख क्या है? क्या यह किसी चीज़ को खो देना है—नौकरी खो देना, आपके तथाकथित प्रियजनों का न रहना, प्रतिष्ठा को, ताकत को, दर्जे को, धन को गंवा बैठना? दुख है क्या? क्या यह आत्मदया है? इसकी पड़ताल ज़रूर कीजिए, अभी, जब हम इस बारे में बात कर रहे हैं। यह वक्ता तो केवल एक दर्पण है, वह उसे ही प्रकट कर रहा है जो आपके भीतर है। और जब आप

इस दर्पण में देखते हैं, तो महत्त्वपूर्ण यह दर्पण नहीं, बल्कि वह है जो आप इस दर्पण में देख रहे हैं। उसके बाद आप इस दर्पण को फेंक सकते हैं, नष्ट कर सकते हैं, तोड़ सकते हैं; वरना आप इस दर्पण की ही एक छवि बना लेंगे।

तो दुख क्या है? किसी का न रहना, इंसान का अकेलापन, उसका अलगाव, वह संताप जो किसी दूसरे से कोई संबंध न रखने से उपजता है, और अंततः मृत्यु। क्या यह आत्मदया है? इसकी पड़ताल कीजिए, महोदय, इन सवालियों से आंखे मत चुराइए। इनकी पड़ताल में बेहद सटीक होने की ज़रूरत है। क्या यह आत्मदया है? वह व्यक्ति न रहा जिसमें आपने अपना सारा स्नेह, अपना ध्यान, सब कुछ उँड़ला हुआ था, और वह मर जाता है, या दूर चला जाता है, या आपको अस्वीकृत कर देता है और आप खुद को बिल्कुल अभागा महसूस करने लगते हैं, यह व्यथा का एक रूप है। दूसरा यह कि आपका मन इतना पारंपरिक, इतना दोहराव भरा और यांत्रिक हो गया है कि आप किसी चीज़ को तत्काल नहीं देख पाते, जो सत्य है उसे तत्क्षण नहीं देख पाते, यह भी व्यथा का एक प्रकार है। जैसे-जैसे आदमी बूढ़ा होता है, बीमारी आती है, देह जर्जरित होती जाती है, और मन धीरे-धीरे अपनी क्षमता खोने लगता है।

ये दुख के कुछ पहलू हैं, और इन सबको देखते हुए आपको पता लगाना होगा कि आपकी प्रतिक्रिया क्या होती है, दुख की इन स्थितियों को आपका जवाब क्या होता है। कहने का मतलब है, आप शक्ति चाहते हैं, धन चाहते हैं, प्रतिष्ठा चाहते हैं, आपको न्याय चाहिए, आप सामाजिक क्रांति लाना चाहते हैं, अगर आप वस्तुतः एक गंभीर, धार्मिक व्यक्ति हैं तो आप उसे खोज लेना चाहते हैं जो समय से परे है, जो सत्य है। पर जो मन उलझा हुआ है, अनिश्चित है, खुद को असुरक्षित महसूस करता है, वह हमेशा दुखी रहता है। तो क्या दुख का यह भी एक पहलू है कि मन अब तक कभी सुरक्षा नहीं पा सका। कोई किसी नौकरी-धंधे में सुरक्षा पा सकता है, कोई परिवार में सुरक्षा पा

## What is our future ?

The future is what we are now. This has been so historically for many thousands of years—the living and dying, and all the travail of our lives. We don't seem to pay much attention to the future. You see on television endless entertainment from morning until late in the night. The children are entertained. The commercials all sustain the feeling that you are being entertained. And this is happening practically all over the world. What will be the future of these children? There is the entertainment of sport—thirty, forty thousand people watching a few people in the arena and shouting themselves hoarse. And you also go and watch some ceremony being performed in a great cathedral, some ritual, and that too is a form of entertainment. You call that holy, religious, but it is still an entertainment—a sentimental, romantic experience, a sensation of religiosity. Watching all this in different parts of the world, watching the mind being occupied with amusement, entertainment, sport, if one is in any way concerned one must inevitably ask what the future is. More of the same in different forms? A variety of amusements?

So you have to consider, if you are at all aware of what is happening to you, how the worlds of entertainment and sport are capturing your mind, shaping your life. Where is all this leading to? Or perhaps you are not concerned at all? You probably don't care about tomorrow. Probably you haven't given it thought, or, if you have, you may say it is too complex, too frightening, too dangerous to think of the coming years—not of your particular old age but of the destiny, if we can use that word, the result of our present way of life, filled with all kinds of romantic, emotional, sentimental feelings and pursuits, and the whole world of entertainment impinging on your mind. If you are at all aware of all this, what is the future of mankind?

As we said earlier, the future is what you are now. If there is no change—not superficial adaptations, superficial adjustments to any political, religious or social pattern, but a change that is far deeper, demanding your attention, your care, your affection—if there is not a fundamental change, then the future is what we are doing every day of our life in the present.

*From 'Krishnamurti to Himself—His Last Journal'*

## हमारा भविष्य क्या है?

भविष्य वही है जो कुछ भी हम अभी हैं। हजारों सालों के इतिहास में यही सब होता रहा है—जी लेना और मर जाना, और हमारी जिंदगी की सारी व्यथाएँ, मुसीबतें। ऐसा लगता ही नहीं कि भविष्य पर हम कोई ध्यान दे रहे हैं। टेलीविजन पर सुबह से देर रात तक अंतहीन मनोरंजन चालू है। बच्चों का मनोरंजन किया जा रहा है। सारे के सारे विज्ञापन आपका मनोरंजन किये जाने के इस एहसास को जिंदा रखे रहते हैं। और कुल मिला कर पूरे विश्व में यही हो रहा है। तो इन बच्चों का भविष्य क्या होगा? खेलों का मनोरंजन है जहाँ तीस-चालीस हजार लोग कुछ लोगों को मैदान में खेलते हुए देखते हैं और बेतहाशा चीखते-चिल्लाते हैं। आप भी किसी बड़े कथीड्रल में जाकर वहाँ चल रहे किसी कर्मकांड को, किसी अनुष्ठान को देखा करते हैं, जो एक अलग किस्म का मनोरंजन ही तो है। उसको आप पवित्र और धार्मिक बताते हैं, किंतु है यह फिर भी मनोरंजन ही—एक भावुक, रूमानी अनुभव, एक किस्म की धार्मिक उत्तेजना। संसार के अलग-अलग हिस्सों में, यह सब देखते हुए कि मन-मस्तिष्क किस तरह मनोरंजन, खेलों और मनबहलाव में उलझे हुए हैं, और अगर किसी भी स्तर पर यह हमारा सरोकार है तो निश्चय ही यह सवाल उठता है कि हमारा भविष्य क्या है। क्या अलग-अलग शक्तों में यही सब हमारा भविष्य होगा? मनबहलावों के विविध रूप?

यदि आपको इस सब का एहसास है कि आपके साथ क्या कुछ हो रहा है, किस तरह मनोरंजन और खेल की दुनिया आपके मन-मस्तिष्क को जकड़े हुए है, आपकी जिंदगी को आकार दे रही है, तो आपको इस मसले पर गौर करना ही होगा। यह सब आपको कहाँ लिये जा रहा है? या फिर यह आपका सरोकार ही नहीं है? संभवतः आपको कल की कोई परवाह नहीं। शायद आपने इस बारे में सोचा नहीं है, और यदि सोचा भी है तो आपका कहना है कि अपने आने वाले बरसों के बारे में सोच-विचार करना बड़ा ही जटिल, डरावना और खतरनाक है—खास अपने बुढ़ापे के बारे में नहीं बल्कि नियति के बारे में, यदि हम इस शब्द का उपयोग कर सकें, हम जिस ढंग की जिंदगी जी रहे हैं, तमाम रूमानी और भावुकताभरे एहसासों और तलाशों के साथ, और पूरा का पूरा मनोरंजन का संसार आपके दिलो-दिमाग पर जिस तरह हावी हो रहा है, इस सब के परिणाम के बारे में। यदि आपको इस सब का जरा भी एहसास है तो आप क्या सोचते हैं कि मानवजाति का भविष्य क्या होने वाला है?

जैसा कि हमने पहले कहा, भविष्य वैसा ही होगा जैसे कि आप अभी हैं। अगर अभी कोई बदलाव नहीं आता—किसी राजनीतिक, धार्मिक या सामाजिक ढाँचे के अनुसार कोई सतही फेरबदल, सतही समायोजन वगैरह नहीं, बल्कि एक ऐसा गहन रूपांतरण जो आपके पूरे ध्यान की, परवाह की, स्नेह की माँग करता है। अगर कोई बुनियादी बदलाव नहीं आता तो भविष्य वही होने जा रहा है जो हम रोज़मर्रा की जिंदगी में आज कर रहे हैं।

अनुवाद : मुकेश गुप्ता

सकता है, किसी को अपने विश्वास में सुरक्षा नज़र आ सकती है—जिस पर मुझे शक है, जिस पर हमेशा शक बना ही रहता है। किसी भी तरह के विश्वास में, या आस्था में कोई सुरक्षा नहीं है, क्योंकि शक आस्था को खत्म कर डालता है, शक हर तरह के विश्वास को नेस्तनाबूद कर देता है। लेकिन इन सभी स्पष्टीकरणों के बाद भी इंसान न सिर्फ अपने आप में दुख भोग रहा है, बल्कि वह इस दुनिया को भी इसकी समस्त दयनीयता, उलझन, दरिद्रता, कुरूपता, हिंसा, युद्धों के घेरे में देखता है। जब वह यह सब देखता है, तो इसमें भी बहुत बड़ा दुख है।

क्या दुख का अंत हो सकता है? वक्ता का कहना है कि ऐसा हो सकता है। जो वह कह रहा है उसे आप मान कर न बैठ जाएं; वह कोई सत्ता-प्रमाण नहीं है, न ही वह कोई गुरु है और न आप उसके अनुयायी हैं। अनुयायी गुरु का विनाश कर देता है और गुरु अनुयायी का।

क्या हम दुख की प्रकृति को देख सकते हैं, बिना उससे दूर भागे, बिना कोई राहत ढूंढे, बिना उसे यह कहकर तर्कसंगत ठहराने की कोशिश किए कि “ठीक; पिछले जन्म में मैंने जो किया था, इसलिए अब उसका फल भुगत रहा हूँ”? आप उन तमाम तरह की चालबाज़ियों से वाकिफ ही हैं, जिन्हें इंसान किया करता है। तात्पर्य यह कि क्या आप दुखभोग के साथ रह सकते हैं, विचार की किसी भी गतिविधि के बगैर? विचार प्रकट होता है और कहने लगता है, “मुझे इसमें से निकलने का रास्ता ढूंढना होगा”, लेकिन दुख वहीं का वहीं रहता है, आप उससे बस भाग रहे होते हैं। लेकिन यदि आप उस एहसास के, जिसे आप दुखभोग कहते हैं, पूरी तरह से, बिना इधर-उधर हटे, साथ बने रहते हैं, तब आप देखेंगे कि दुख का पूर्णतः अंत हो जाता है, और तब एक सर्वथा भिन्न शुरूआत होती है।

साथ ही हमें इस बात की खोजबीन भी करनी है कि मृत्यु क्या है। क्योंकि यह हमारी ज़िंदगी का हिस्सा है—जीना और मरना—यह जीना, इसकी समस्त कुरूपता, इसकी सुंदरता, इसकी

जद्दोजहद, इसकी चिंताओं और इसके संघर्षों समेत; और मृत्यु, शारीरिक संरचना की समाप्ति, बीमारी, वृद्धावस्था या दुर्घटना के ज़रिये। अधिकतर मनुष्य, चाहे वे धार्मिक हों या कुछ और, मृत्यु से भय खाते हैं। अर्थात्, वे जी रहे हैं और कहते हैं कि मृत्यु को आगे खिसकाया जा सकता है, जीवन और मृत्यु के बीच तो एक खाई मौजूद है। यह एक तथ्य है। हमने ऐसा क्यों किया है? इस मन ने मरने और जीने को अलग-अलग क्यों कर लिया है? मेहरबानी करके इसका पता लगाएं, यह आपकी समस्या है। अपने दिल से, दिमाग से पता लगाएं, अगर आप सोच रहे हैं, जी रहे हैं, सक्रिय हैं, अगर आप महज़ एक परंपरावादी नहीं हैं जो बस दोहराए चला जा रहा है। क्यों युगों-युगों से इंसान जीने और मरने को अलग-अलग करता आया है। इसका मतलब, समय इनके बीच में आ गया है, आप समझ रहे हैं? वह समय वर्षों का हो सकता है या फिर दो दिन का; जीने और मरने के बीच एक अंतराल है, जो समय है।

यह पता लगाने के लिए व्यक्ति को यह पड़ताल करनी होगी कि जीना क्या होता है और मरना क्या होता है। तो क्या हम साथ-साथ चल रहे हैं? या फिर आपके पास मृत्यु के बारे में पहले से ही व्याख्याएं हैं, या आप पुनर्जन्म में, कर्म में विश्वास रखते हैं, या आपका यह विश्वास है कि स्वर्ग में आप पुनर्जीवित हो उठेंगे, वगैरह? जिसका मतलब है कि आप इस कदर संस्कारित हैं, आपका मन किसी विश्वास, किसी निष्कर्ष के चलते इतना संकीर्ण हो चुका है कि आप इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ हैं, अर्थात् आपका मन शब्दों का, विश्वासों का, राहत-दिलासा देने वाले किसी किस्म के निष्कर्षों-विचारों का गुलाम हो चुका है, और इसलिए आप यह कभी समझ नहीं पाएंगे कि मनुष्य प्राणी सहस्राब्दियों से यह सब क्यों करते रहे हैं—यह विभाजन, यह द्वंद्व, यह भय। अतः इस सब की पड़ताल करने से पहले आपको यह अवश्य पूछना चाहिए : जीना क्या है?

जीना, आपका दैनिक जीवन क्या है?—सुबह से रात तक, नौ बजे सुबह से शाम पांच या छः बजे तक आप नौकरी-धंधे पर जाते हैं, दिन पर दिन, माह पर माह और साल-दर-साल, बस वही-वही दोहराते चले जाना। तो यह जीने का एक भाग हुआ। फिर वह भी जीवन है जो आप अपने परिवार के साथ जीते हैं, अपनी पत्नी के साथ, अपने पड़ोसी के साथ; आपकी पत्नी या आपके पति तथा आपके बीच द्वंद्व, यौन इच्छाएं, उनकी तृप्ति, उनमें उलझे रहना, और वह संघर्ष जो दो मनुष्य प्राणियों के बीच अंतहीन रूप से बरकरार रहता है; और जो है तथा जो होना चाहिए के बीच का द्वंद्व; सत्ता से चिपके रहना, वह चाहे राजनीतिक हो या धार्मिक। सोचकर देखिए एक धार्मिक व्यक्ति के पास सत्ता—कितना वाहियात बन गया है यह सब!

तो जीना क्या है? मेरी गुज़ारिश है कि आप खुद को खुद ही इसका जवाब दें। जीना क्या है? जद्दोजहद की एक निरंतरता, कभी-कभार के आनंद के साथ, सुख का पीछा, भय—यही है आपका पूरा जीवन। इसे कोई नकार नहीं सकता; यह जानने के लिए आपको किसी पुरोहित, किसी मनोवैज्ञानिक, किसी गुरु के पास जाने की ज़रूरत नहीं। यह आपका जीवन है, यांत्रिक, दोहराव भरा, किसी ऐसी चीज़ में विश्वास करता हुआ जिसका कोई मूल्य नहीं। महत्त्वपूर्ण यह है कि आप क्या कर रहे हैं, आप किस तरह कार्य कर रहे हैं, आपका व्यवहार कैसा है, यह सब।

यही है जिसे हम जीवन कहते हैं, जीना कहते हैं। किसी के साथ आसक्ति, और उससे जुड़े डर, चिंताएं, ईर्ष्याएं। जहां आसक्ति है, वहां विकृति है। जब कोई शख्स सत्ता को, ताकत को पकड़े हुए है, और वह उस सत्ता के प्रति आसक्ति है, तो वह विकृति को, भ्रष्टता को पोषित कर रहा है। जब मुख्य पुरोहित पदासीन हो जाता है, सत्ताधिकारी बन बैठता है, तो निश्चित ही वह भ्रष्टता का संवर्धन कर रहा होता है। आप अपनी आंखों के सामने, अपनी नाक के नीचे यह सब घटित होता देखते हैं। यही सब आपका जीवन है। और आप इस सब के छूट जाने से

भयभीत हैं। आपके लिए इसका छूट जाना मृत्यु है; इसी को तो आप मृत्यु मानते हैं। आप आसक्त हैं, आपके पास धन है, पद-प्रतिष्ठा है; या फिर आप एकदम निर्धन हैं, इंसोफ नहीं है, आप अपने आप में रीते हैं, अधूरे हैं। यही तो है जीना, और इसीसे आप चिपके रहते हैं। और यही सब ज्ञात है, ठीक? इसे हर कोई जानता है। और अज्ञात है मृत्यु। आप कहते रहें कि पुनर्जन्म होता है, इसके प्रमाण हैं, वगैरह वगैरह। तो यह है आपकी जिंदगी।

अब, जीवन जीते हुए, क्या आप आसक्ति को समाप्त कर सकते हैं? आसक्ति किसी विश्वास के प्रति, किसी व्यक्ति के प्रति, परिवार के प्रति, किसी आदर्श के प्रति, किसी खास परंपरा के प्रति—क्या आप उस आसक्ति को छूटने दे सकते हैं? मृत्यु तो आपसे ऐसा करवा ही लेगी। आप किसी व्यक्ति के प्रति बहुत गहराई से आसक्त हो सकते हैं क्योंकि आप अकेले हैं, आपको राहत-आराम की ज़रूरत है, संग-साथ की ज़रूरत है। आप अकेले जी नहीं पाते। इसलिए आप किसी पर निर्भर करने लगते हैं। और निर्भरता का अर्थ है आसक्ति, और जहां आसक्ति है, वहां ईर्ष्या है, चिंता है, भय है, और इस सब से उभरते तमाम कर्म हैं, जो सब विकृति है, भ्रष्टता है। अब, मृत्यु कहती है : “बस। तुम मरने जा रहे हो।” तो क्या आप जीते हुए ही इस खेल को खत्म कर सकते हैं? यह खत्म होना, यह अंत आरंभ है कुछ सर्वथा नूतन का—आसक्ति का पूरी तरह से अंत, जो कि मृत्यु है। जब आप इसका पूरी तरह अंत कर देते हैं, अस्तित्व का एक सर्वथा नया आयाम विद्यमान होता है।

तब, मृत्यु क्या है? हमने इस पर गौर किया है कि हमारा जीवन क्या है : अस्त-व्यस्तता, दुर्दशा, उलझन, और मनुष्य का परिश्रम, कभी न खत्म होने वाला परिश्रम। मृत्यु क्या है? मृत्यु केवल शारीरिक ढाँचे की नहीं, बूढ़ा होते जा रहे, बीमारी से ग्रस्त, दुरुपयोग से ग्रस्त शरीर का—सनसनी, तृष्णापूर्ति, उत्तेजना हासिल करने के लिए जिसे लगातार इस्तेमाल किया जाता रहा

हो—होश रहते, या फिर बेहद दर्द के साथ, तरह तरह की बीमारियों से घिर कर क्रमशः क्षय होता चला जाना। क्या यही मृत्यु है—देह का मर जाना? इसे तो हम जानते हैं, पहचानते हैं, देखते हैं इसे। लेकिन हम यह भी कहते हैं कि कुछ है जो नहीं मर सकता, आत्मा, आत्मन्, कुछ ऐसा जो स्थायी है, जिसका आपके मर जाने पर पुनर्जन्म होता है। आप इस सब में बहुत गहराई से यकीन करते हैं, हालांकि आपमें से कुछ बौद्ध हैं। सभी धर्म अलग अलग प्रकार का दिलासा देते हैं। दिलासा, राहत सत्य नहीं है, यह उस मानस की समझ नहीं है जो तमाम प्रकार के भ्रमों, रूढ़ियों, कर्मकांडों को भेदती चली जाती है।

तो क्या मनुष्य में, आपमें कुछ स्थायी है? यानी अगर आपमें कुछ स्थायी है, तो उसके आगामी जीवन में फिर से जन्म लेने की संभावना बनती है। पुनर्जन्म में बस विश्वास कर लेने का तो कुछ मतलब नहीं है। अगर आपको उसमें विश्वास है, तो आज इस पल जो आप करते हैं, उसका अनंत रूप से महत्त्व है—अगर पुनर्जन्म में आपका विश्वास है तो। तब, आप इस पल जो करते हैं, उसके फलस्वरूप या तो आपको कोई बेहतर पद, ज़्यादा बड़ा मकान मिल जाएगा, या आप स्वर्ग के ज़्यादा करीब होंगे; वैसे इनमें कोई फर्क है नहीं।

तो क्या आपमें कुछ है, जो चिरस्थायी है—यह 'मैं', यह 'आप', यह मन जो कहता है, "मैं चिरस्थायी हूँ"?—क्या ऐसा कुछ है जो सदा रहने वाला हो? या सब कुछ गतिमान् है, बदल रहा है, और कुछ भी स्थायी नहीं है? क्या किसी अन्य के साथ आपका संबंध चिरस्थायी है? और क्या आपके देवी-देवता चिरस्थायी हैं? ईश्वर को विचार ने बनाया है, आपके दिलासे के लिए, ताकि आप अपने दैनिक जीवन की खुराफात से किसी अनमोल तत्त्व में पलायन कर सकें, जो एक भ्रम के सिवा कुछ नहीं है। हम कह रहे हैं, "आप स्वयं पता लगाएं कि क्या आपके जीवन में कुछ ऐसा है जो स्थायी हो।" मकान स्थायी है, अगर कोई भूकंप न आ जाए तो। ये पेड़, ये समुद्र, ये नदियां, ये पहाड़ स्थायी हैं।

इनके अलावा क्या कुछ ऐसा है आपके जीवन में, जो स्थायी, साथ बना रहने वाला, टिका रहने वाला हो?

यह 'स्व', यह 'मैं', यह 'अहं', विचार के द्वारा निर्मित किया गया है। नाम, रूप, गुणधर्म, लक्षण विशेष, स्वभाव की खासियतें, क्षमताएं, प्रतिभाएं—यह सब कुछ संस्कृति का, विशेष प्रकार की शिक्षा इत्यादि का परिणाम है। चूंकि कुछ स्थायी नहीं है, आप भी स्थायी नहीं हैं। आपका एक भौतिक शरीर है, पर आपके विचार स्थायी नहीं हैं, वे तो बदलते रहते हैं, उनमें अनवरत संशोधन होता रहता है। आपको अपने विश्वासों से राहत मिलती है, और आप सोचते हैं कि आपके विश्वास में सुरक्षा है। विश्वास महज़ एक शब्द है, महज़ एक ख्याल, एक धारणा, और उस धारणा में आप आश्रय लिया करते हैं, पर वह सुरक्षा नहीं है। क्या आपने अपने धार्मिक लोगों पर गौर किया है, किस कदर सुरक्षित हैं वे अपनी हैसियत में, अपने विश्वास में, अपने मत-सिद्धांत में? और वह सुरक्षा भ्रांति का ही एक रूप है। तो कतई कुछ भी स्थायी नहीं है।

इस बात को महसूस करना बहुत अवसादजनक, विषादपूर्ण लग सकता है, लेकिन वस्तुतः ऐसा है नहीं। जब आप इस तथ्य को देख पाते हैं कि कुछ भी टिका रहने वाला नहीं है, तो यह देखना ही प्रज्ञा है, और उस प्रज्ञा में है संपूर्ण सुरक्षा। यह आपकी या मेरी प्रज्ञा नहीं है : यह तो बस प्रज्ञा है। जब तक आसक्ति मौजूद है, विकृति, भ्रष्टता अवश्यंभावी है—इसके सत्य को तत्क्षण देखना और तत्क्षण आसक्ति का अंत करना प्रज्ञा है। वह प्रज्ञा सुरक्षा का एकमात्र कारक है—बल्कि सुरक्षा शब्द ही गलत है। वह प्रज्ञा, आपकी या किसी अन्य की नहीं है, यह तो किसी अनंत असीम की प्रज्ञा है। जैसा कि हमने कहा था, जहां दुखभोग है, वहां करुणा नहीं है। और जहां करुणा है, उसकी अपनी प्रज्ञा होती है।

‘मैग्नीट्यूड ऑव द माइंड’ से  
अनुवाद : पुष्पिता, लवीन कुमार

मंथन और संवाद

यह ब्रह्मांड ही ध्यानावस्थित है

जब मैंने कृष्णमूर्ति का इंटरव्यू लिया तब उनकी उम्र काफी हो गयी थी और उनकी सेहत भी अच्छी नहीं थी। उनके बायें हाथ में कंपन होने लगा था। इंटरव्यू के बाद हम गले मिले। “अलविदा”, मैंने उनसे कहा। 17 फरवरी 1986 को ओहाइ, कैलीफोर्निया, में कृष्णमूर्ति की अग्न्याशय के कैसर से मृत्यु हो गई।

ऋषि वैली स्कूल आंध्रप्रदेश के एक छोटे शहर, मदनापल्ली, से कुछ किलोमीटर दूर स्थित है। दिसंबर का महीना था और स्कूल के मैदानों में चारों ओर अज़ालिया और बोगनविलिया के फूल खिले हुए थे।

विद्यार्थी बड़ी, खुली-खुली कक्षाओं में पढ़ते या फिर बाहर, विशालकाय बरगद के पेड़ों की छाँव में। शाम को ये छोटे बच्चे एक पहाड़ी के ऊपर बैठ डूबते सूरज का नज़ारा देखते।

मैं वहाँ कृष्णमूर्ति से मिलने गया था।

कृष्णमूर्ति से जिस कमरे में मेरी भेंट हुई वह छोटा था, सादगी भरा। दो कुर्सियाँ थीं और फर्श पर दो बांस की तिपाइयाँ रखीं थीं। जब मैं इंतज़ार कर रहा था तब एक युवा महिला कमरे में आई। उन्होंने स्कूल के मैदान से चुने फूलों को गुलदान में सजाया और फिर चुपचाप चली गई।

कृष्णजी कमरे में दाखिल हुए।

हाथ जोड़ कर और होंठों पर एक मुस्कान लिए उन्होंने मेरा स्वागत किया। और मैंने अपना पहला सवाल उनके सामने रखा।

*ईसान की दास्तां हमेशा से ही युद्धों, उत्पातों, जुल्मों भरी रही है। इन झगड़ों और द्वंद्वों का अंत कैसे किया जा सकता है?*

“जब तक इस दुनिया में राष्ट्र रहेंगे, तब तक युद्ध होते रहेंगे। जब तक हम खुद को अरबी और यहूदी, इतावली या फ्रांसीसी, जर्मन और अंग्रेज़, हिंदू और मुसलमान जैसे वर्गों में बांटते रहेंगे, तब तक लड़ाइयाँ होती रहेंगी। हमें इस दुनिया को एक इकाई की तरह देखना होगा। और हम ऐसा करने की बजाय इसे समूहों में बांटते चले जा रहे हैं : भौगोलिक तौर पर, भाषा या धर्म के नाम पर। हमें अपनी इन विभाजित करने वाली कबायली प्रवृत्तियों को समाप्त करना होगा।”

*आप अहिंसा के सिद्धांत की आलोचना करते हैं...*

“मानवजाति हिंसक है और उसने अहिंसा नाम का एक विचार गढ़ लिया है। मैं हिंसक हूँ और मैं अहिंसक बनने की कोशिश करता हूँ, इस आदर्श का अनुकरण करते हुए; और इस तरह इन दो मुद्दों को एक-दूसरे से जुदा करती राह पर बढ़ाते हुए, मैं हिंसक ही बना रहता हूँ। और इसलिए, एक सिद्धांत के तौर पर तो अहिंसा एक बढ़िया और शानदार विचार है, लेकिन यह किसी काम का नहीं है। मैं हिंसक हूँ। यही तथ्य है, वास्तविकता है। यदि मैं ‘जो है’ के साथ बना रहता हूँ, तभी मैं इसे बदलने की दिशा में कुछ कर सकता हूँ। इसकी बजाय, अगर मैं किसी आदर्श के पीछे दौड़ता हूँ, तो मैं सच्चाई से, वास्तविकता से मुंह फेर रहा होता हूँ।”

बात सिर्फ हिंसा की नहीं है। हम सभी एक भ्रष्ट दुनिया में जी रहे हैं।

“हम सभी चाहते हैं कि समाज में सुव्यवस्था हो। वास्तव में सुव्यवस्था का अर्थ है भ्रष्टाचार की गैर-मौजूदगी, इसका मतलब है कि हर इंसान अपने कार्य के लिए खुद ज़िम्मेदार हो। लेकिन ‘समाज’ एक हवाई बात है। सच कहें तो इस तरह की किसी चीज़ का वजूद है ही नहीं। है तो बस एक इंसान का दूसरे के साथ संबंध। किसी अन्य मनुष्य के साथ हमारा संबंध विशेष ही समाज है। यदि यह संबंध नफ़रत, ईर्ष्या, शोषण पर आधारित है, या महत्वाकांक्षा, लोभ, जलन, आदि से प्रेरित है, तब समाज अनिवार्य रूप से वैसा ही होगा जैसे हम हैं। तो, बात समाज में कायदा या सुव्यवस्था लाने की नहीं है, बल्कि ज़रूरत खुद अपने आप में सुव्यवस्था लाने की है। अव्यवस्था की मिट्टी में आप सुव्यवस्था पैदा नहीं कर सकते।”

क्या वैयक्तिक मुक्ति और सामूहिक ज़िम्मेदारी के बीच कोई रेखा है?

“क्या व्यक्ति जैसा कुछ है भी? हममें से हर किसी में समस्त मानवजाति की चेतना ही संचरित है। हम में हर एक यह संसार ही है। सभी मनुष्य एक समान चेतना के सहभागी हैं। अगर इंसान यह समझ ले, तो फिर उसके लिए दूसरे की जान लेना नामुमकिन हो जाएगा।”

वह क्या है जो हमें एक-दूसरे से जोड़ता है?

“क्या आपने कभी इस सच्चाई पर गौर किया है कि हर इंसान कष्ट भोगता है? वह चाहे कहीं भी रहता हो—अमेरिका में, रूस में, भारत में, पाकिस्तान में—हर एक मनुष्य दुख और पीड़ा झेलता है।”

इस पीड़ा, इस कष्ट के पीछे कारण क्या है?

“करोड़ों-अरबों सालों से इंसान दुख और पीड़ा का विशाल बोझ ढोता आया है। यह पीड़ा है संसार की, युद्धों और उनके परिणामों की, आतंकवाद की। फिर गरीबी की पीड़ा है—एक ऐसा संसार जहां अमीर और अमीर होते जा रहे हैं और गरीब और भी गरीब। एक और पीड़ा वह है जो अज्ञान से पैदा होती है। किताबी ज्ञान से अनजान होना नहीं बल्कि अपने ही मन-मस्तिष्क से अनजान होने के कारण पैदा होने वाला दुख। यही वह अज्ञान है जो सही, ईमानदार और सच्चे कर्म के आड़े आता है। फिर एक होती है व्यक्तिगत पीड़ा। वे पति-पत्नी जिन्होंने अपनी औलाद को खो दिया है : वहां अकेलेपन की व्यथा है, उसे खो देने की तड़प है जिससे उन्होंने अपनी आस बांध रखी थी, उम्मीदें जोड़ रखी थीं। और एक पीड़ा है कामयाबी हासिल न कर पाने की, सामाजिक सफलता की सीढ़ी पर न चढ़ पाने की। और कुरूप, अनाकर्षक होने की पीड़ा। हर उस मनुष्य की पीड़ा भी है जिसका हर कार्य बस दुख और तकलीफ ही पैदा करता लगता है। और यह दुख, यह तकलीफ हम मृत्यु तक अपने साथ लेकर चलते हैं।”

*इस दुख-तकलीफ को समाप्त कैसे किया जाए?*

“जब हम दुख में हों, तब हमें उसके कारण का सामना करना होगा, उसे समझना होगा, उसकी पूरी गहराई में पैठना होगा। इस प्रक्रिया के बाद ही मुक्ति को खोज पाना मुमकिन है। मुक्ति का निहितार्थ पीड़ा से, दुख-तकलीफ से छुटकारा नहीं है। मुक्ति का अर्थ है दुख का अंत कर देना। हम में से अधिकतर लोग किसी न किसी चीज़ के प्रति आसक्त हैं, हमारा लगाव है अपने परिवार से, अपने बच्चों से, सामाजिक रुतबे से, अपने बारे में अपनी ही गढ़ी हुई किसी छवि से। राजनेता अपनी सत्ता से चिपका है। आदर्शवादी अपने आदर्शों के प्रति आसक्त है। धर्म को मानने वाले एक ऐसे ईश्वर के प्रति आसक्त हैं जिसे इंसान ने खुद ईजाद किया है। यहां, भारत में, लोगों की आसक्ति अपनी जाति से, अपनी पगड़ियों से हैं। और यह आसक्ति, अपने साथ शर्तिया तौर पर विकृति लाती है। हमें इस आसक्ति को पूरी तरह से समाप्त करना होगा। नहीं तो पीड़ा और दुख को टाला नहीं जा सकता।”

*आज का मानव चिंता और भय से पीड़ित है।*

“एक भय वह है जो स्वाभाविक है : जो तब पैदा होता है जब आप किसी खतरे से बचना चाहते हैं। और एक होता है मानसिक भय जो हर इंसान में मौजूद है—विचार और समय उसकी जड़ें हैं। समय भविष्य के रूप में। और समय अतीत के रूप में जो हमारे भविष्य को संस्कारित

करता है। समय जो कि 'जो है' से लेकर 'जो होना चाहिए' और 'जो शायद नहीं होगा' तक चलती एक लय है। और फिर है विचार। यह विचार ही है जिसने संसार में क्लेश और द्वंद्व पैदा किया है। और यह विचार ही है जिसने ज़बरदस्त तकनीकी विकास को जन्म दिया है..."

*तकनीकी विकास का अर्थ है यातायात के आधुनिक साधन, शल्यचिकित्सा। लेकिन इसमें परमाणु हथियार भी शामिल हैं...*

“तकनीकी ज्ञान मनुष्य के लिए लाभदायक है। जितना अधिक विकास होगा, जीवन की गुणवत्ता उतनी ही उच्च होगी। पर जैसे ही इसका इस्तेमाल 'मैं' की पूर्ति के लिए होने लगता है, बात बिगड़ने लगती है। यह उस संगीतकार की तरह है जो अपना पियानो केवल नाम और प्रसिद्धि के लिए बजाता है। उसकी दिलचस्पी केवल शोहरत पाने में है, स्वयं संगीत की सुंदरता में नहीं..."

*हम भय की बात कर रहे थे...*

“कोई भी भय एक अमूर्त, काल्पनिक सत्ता नहीं है। सभी भय, वे भी जो अवचेतन की गहरी से गहरी खोह में बसे हैं, विचार की ही उपज हैं। सभी भयों के मूल में इस दुनिया से अपने नामोनिशान के मिट जाने का डर है, अपने खत्म हो जाने का डर है। सभी जानते हैं कि दुनिया आनी-जानी है। लेकिन, मानसिक तौर पर, हम निरंतरता चाहते हैं, स्थायित्व चाहते हैं। हमारी यही चाह ही भय का स्रोत है। भय से मुक्त होने के लिए हमें स्थायित्व की इस इच्छा की गहराई में जाना होगा।”

*जो हमें ले आता है मृत्यु के विषय पर...*

“मृत्यु को समझने के लिए—केवल बातों में नहीं, बल्कि वास्तव में—हमें अब तक के गढ़े हुए अपने सभी विश्वासों, विचारों, तमाम अनुमानों से मुक्त होना होगा। मौत के बारे में हमारी जो भी धारणा है, वह भय द्वारा निर्दिष्ट की गयी है। मृत्यु को समझने के लिए हमें यह पूछना छोड़ना होगा कि मरने 'के बाद' क्या होता है। अगर आप यह पूछते हैं कि मृत्यु के परे क्या है, तब आप मृत्यु 'क्या है' इसकी समझ से चूक जाते हैं।”

*मृत्यु क्या है?*

“मृत्यु हमारे जीवन का अभिन्न अंग है, हमारे अस्तित्व का हिस्सा है। हर एक को मौत आनी है; यह हम सब जानते हैं। लेकिन हम यूँ पेश आते हैं मानों मौत का वजूद ही नहीं है। हम कहते हैं, 'मृत्यु वहाँ दूर कहीं है, लेकिन जब तक मैं जिंदा हूँ, मैं इसके बारे में सोचना नहीं

चाहता।' फिर भी, जब मौत आती है तब हमें सब कुछ पीछे छोड़ जाना होता है। तो मैं पूछता हूँ : क्या यह संभव है कि मानसिक स्तर पर, हम मृत्यु के साथ जिएं? मृत्यु मेरा, मेरी महत्वाकांक्षाओं का, मेरी इच्छाओं का, मेरी हिंसा का अंत है। मृत्यु के साथ जीने का अर्थ होगा हिंसा के बिना जीना, आसक्ति के बिना जीना। मृत्यु और जीवन अलग-अलग नहीं हैं। और इस अंत का अर्थ है शुरूआत।' ”

*करोड़ों सालों से मनुष्य धर्म में आश्रय ढूंढता आया है...*

“संगठन के रूप में, सभी धर्मों की संरचना विचार द्वारा हुई है। सभी कर्म-कांड, यह सारा आडंबर जो धर्म के साथ-साथ चलता है, धार्मिक सभाएं, प्रार्थनाएं विचार पर ही आधारित है। गिरजाघरों, मंदिरों, मसजिदों के निर्माण के पीछे, ईश्वर नाम की एक छवि बना उसकी पूजा-अर्चना करने के पीछे विचार का ही हाथ है। यह समस्या का एक पहलू है। दूसरी ओर एक ऐसी सच्ची धार्मिक भावना है जो केवल तभी वजूद में आ सकती है जब भय गैरमौजूद होता है। जब धर्म भावनात्मक उत्तेजना का ज़रिया नहीं रहता, जब वह किसी काल्पनिक छवि की पूजा करना नहीं रह जाता...”

*अपने स्वर्गों और जन्नतों द्वारा धर्म मृत्यु के इस प्रश्न का कोई सांत्वनाप्रद उत्तर देने का प्रयत्न करते आए हैं। यहां भारत में, पुनर्जन्म को कई लोग अस्तित्व की निरंतरता समझते हैं...*

“मेरे पुत्र की मृत्यु हो जाती है किसी बीमारी के कारण, किसी दुर्घटना में। मैं उसे दम तोड़ते हुए देखता हूँ, आंसू बहाता हूँ। मैं अपने अकेलेपन के लिए रो रहा हूँ, अपनी आसक्ति के लिए आंसू बहा रहा हूँ। फिर, मैं इस दर्द से बच निकलने की कोशिश करता हूँ। मेरा मन थोड़ी राहत ढूंढने लगता है, कोई नशा, जैसे धर्म। और तब मैं अपने आप से कहता हूँ : “मैं अगले जनम में उससे फिर मिलूंगा।” अच्छी कोशिश है! साफ़ ज़ाहिर है कि यह उस दुख से बचने का प्रयास है। पुनर्जन्म में विश्वास का कोई मूल्य नहीं है। तो, ये सभी मत जो मरणोपरांत जीवन की बात करते हैं, क्या मृत्यु की सच्ची समझ पर आधारित हैं? या फिर ऐसा है कि ये सब बस कुछ धारणाएं हैं जिनकी आड़ में हम अपने इस बिखरे हुए, खंडित अस्तित्व को—इस जीवन को जो कि अंतर्विरोधों से भरा है—सुरक्षित रखने की कोशिश किया करते हैं?”

*आप कह रहे हैं कि एक सच्ची धार्मिक भावना का वजूद तो है...*

“आज के धर्मों में मनुष्य, और उसके जीवन के पार जो है, इनके बीच वास्तविक संवाद-संप्रेषण की कोई जगह नहीं है। किसी भी किस्म के चर्च का, मठ-मंदिर का वजूद तो सिर्फ समाज के स्थापित ढाँचे के दायरे में ही कैद रहता है। लेकिन जो शख्स असल में धार्मिक है, वह तो आज़ाद है—सभी डरों से आज़ाद, हज़ारों-हज़ार सालों से सभ्यताओं द्वारा रचे गये डरों से आज़ाद, निजी और सामूहिक अतीत से आज़ाद। ईश्वर है या नहीं, इस प्रश्न का कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व तो इस बात को समझने के जतन का है कि क्या मानवीय मन पूरी तरह से आज़ाद हो सकता है; तमाम जानकारी और सारे संचित अनुभव से आज़ाद...”

आप एक बुनियादी बदलाव का जिक्र कर रहे हैं...

“आज हर कोई यह महसूस कर रहा है कि एक बदलाव की, गहरे में एक उत्परिवर्तन की, म्यूटेशन की सच में ज़रूरत है। सिर्फ ख्यालों के स्तर पर बदलाव की नहीं, बल्कि मानव-मस्तिष्क की कोशिकाओं में बदलाव की ज़रूरत है, उन कोशिकाओं में जिनमें अतीत की स्मृतियाँ संचित हैं, जो पच्चीस लाख वर्षों से एकत्रित की जा रही जानकारी का बोझा ढो रही हैं। क्या मानव-मस्तिष्क की इन कोशिकाओं के लिए यह कहना संभव है, बिना किसी दबाव के, बिना किन्हीं ड्रग्स का सहारा लिए, “बहुत हो गया, बदलने की घड़ी आ गयी है”?”

आपने अभी कहा कि पच्चीस लाख वर्ष भी मनुष्य को बदलने के लिए पर्याप्त नहीं रहे हैं। मानव-मस्तिष्क को बदलने के लिए और कितने समय की दरकार होगी?

“समय क्या है? समय है अब, इसी पल में। इस ‘अब’ को अतीत द्वारा ढाला गया है। और भविष्य है वर्तमान में कुछ फेरबदल भर। इसलिए, किसी ओर भी वस्तुतः गति हो नहीं रही। गति में समय निहित है। लेकिन अगर गति हो ही नहीं रही, तो इसका मतलब है कि जो मैं आज कर रहा हूँ वही मैं कल भी करने वाला हूँ। अगर मैं इस वक्त लोभी हूँ, ईर्ष्यालु हूँ, तो मैं कल भी वैसा ही रहूँगा। तो क्या इस ईर्ष्या को, इस लोभ को इसी वक्त खत्म कर पाना मुमकिन है? क्या ‘अभी’ बुनियादी तौर पर बदल पाना मुमकिन है? पच्चीस लाख वर्ष पहले हम बर्बर थे; आज भी हम वैसे ही हैं। हमें ताकत चाहिए, समाज में स्टेटस चाहिए, दर्जा चाहिए, हत्या करते हैं हम अपने साथी मनुष्यों की, ईर्ष्यालु हैं हम, सब वैसा ही तो है। मेरा कहना है : अगर मैं अभी नहीं बदलता, तो मैं कल भी ऐसा ही रहूँगा। और अगले लाखों कल भी ऐसा ही रहने वाला है। तो क्या मेरे लिए, ‘अभी’ पूरी तरह से बदलना मुमकिन है? मेरा कहना है कि हाँ, यह मुमकिन है।”

कैसे?

“नहीं, ‘कैसे’ नहीं। जिस पल आप खुद से पूछते हैं ‘कैसे’, आप एक ऐसी प्रक्रिया का हिस्सा बन जाते हैं जिसमें समय का दखल है। इस तरह से आप कोई बदलाव नहीं ला सकते। हम वही तो हैं जो हम अब हैं, इस वक्त हैं। इस ज्ञान, इन प्रार्थनाओं, इन मंत्रों, इस अनुशासन का इसमें कोई उपयोग नहीं है। इस तरीके से आप बदल नहीं सकते हैं। अच्छा, इस समस्या को थोड़ा अलग तरह से देखते हैं। फर्ज कीजिए, आपको इस तथ्य का पता चलता है कि मैं मरने वाला हूँ। डॉक्टरों ने परीक्षण आदि करके बताया है कि मुझे कोई लाइलाज बीमारी है। ज़िंदगी के सिर्फ दो महीने बचे हैं मेरे पास। लेकिन अगर सारा समय ‘अब’ में है, तो मेरी मृत्यु भी अब ही है। और मृत्यु कहती है, ‘आप अपने साथ कुछ भी नहीं ले जा सकते। आपका ज्ञान, आपका ईश्वर, आपकी किताबें, आपकी पत्नी, आपके बच्चे, आपकी धन-दौलत, आपका चरित्र, आपका दंभ, और जो कुछ भी आपने इकट्ठा किया है वह सब, कुछ भी नहीं साथ ले जा सकते आप।’ तो मैं मंथन करता हूँ : क्या बिना आसक्ति के जीना, अभी, इसी पल, मुमकिन है? आपको सारी आसक्ति से ‘अभी’ आज़ाद होना है। यही बदलाव है।”

*क्या ध्यान ऐसा बदलाव लाने में मदद करता है?*

“क्या बिना किन्हीं बैसाखियों के, बिना उन संदर्भों के जिन्हें हमने कसौटी बना रखा हो, बिना किसी संग-सहारे के रह पाना मुमकिन है? जानकारी और आस्था का कोई महत्त्व नहीं है। मुझे यकीन है कि चीज़ों पर मूल्य आरोपित न करना निहायत ज़रूरी है; सिर्फ तभी मन समय के बाहर आ सकता है। गहन ध्यान की स्थिति में रहिए, जिससे आपको कोई नतीजे हासिल नहीं करने हैं; इस स्थिति में कतई कुछ भी शेष नहीं रहता है, यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें, जो ध्यान कर रहा है, वह तमाम चीज़ों का आधार नहीं है, केंद्रबिंदु नहीं है।”

*ध्यानकर्ता के बिना ध्यान?*

“जब तक मैं ध्यान करने की कोशिश में लगा हूँ, तब तक ध्यान हो ही नहीं सकता। बल्कि, मैं एक ऐसी अवस्था की बात कर रहा हूँ जिसमें सिर्फ एक ही मस्तिष्क, सिर्फ एक ही मन ध्यान में है। यही आधार है। यह ब्रह्मांड ही ध्यानावस्थित है। जो कुछ भी वजूद में है, उसका मूल स्रोत यही है। ऐसा ध्यान तभी मुमकिन है जब ध्यानकर्ता की मौजूदगी ही न रहे। दुख-दर्द से पूरी तरह आज़ाद होना सिर्फ तभी मुमकिन है। ‘मैं’ के पूरी तरह मिट जाने पर ही ध्यान की स्थिति में प्रवेश हो पाता है।”

लेकिन क्या इस तरह का ध्यान मुमकिन है?

“क्या मस्तिष्क के लिए, एक मनुष्य के लिए, पूरी तरह आज़ाद हो पाना मुमकिन है? ध्यानकर्ता कुछ हासिल करने के लिए, अपने जीवन में व्यवस्था लाने के लिए, तरतीब लाने के लिए ध्यान करता है। इसकी बजाय, अगर हम खुद को ध्यानकर्ता से मुक्त कर सकें, तो यह ध्यान ब्रह्मांड द्वारा किया जा रहा ध्यान ही है। ईश्वर का अस्तित्व है कि नहीं, यह प्रश्न इस बिंदु पर आकर प्रासंगिक नहीं रह जाता।”

क्या विचार का अंत करने में समस्त कर्म का त्याग भी निहित है?

“विचार कभी भी समग्र, एकीकृत नहीं होता। यह हमेशा खंडित होता है, आंशिक होता है। यह केंद्रयुक्त वृत्तों में चक्कर काटा करता है। यह एकत्व का बोध करने में, और फिर उस एकत्व की स्थिति से कर्म करने में असमर्थ है। हमारा मस्तिष्क शब्दों का एक जाल है। और शब्द हैं प्रतीक, स्मृति, विचार। जब हम अवलोकन करते हैं, देखते हैं बगैर विचार के, तब होता क्या है? यह देखने का एक नया ढंग होता है—सुनना और सीखना, जिसमें जानकारी की कोई भूमिका नहीं रहती। ऐसा करने में ‘मैं’ मिट जाता है, क्योंकि ‘मैं’ तो जानकारी ही है। उस बिंदु पर हम एक विराट ऊर्जा के संपर्क में आते हैं, ऐसी ऊर्जा के, जिसे विचार ने नहीं रचा है। वह ऊर्जा ही करुणा है, प्रेम है। वही ऊर्जा प्रज्ञा है; प्रज्ञा, जो न मेरी है, न किसी और की है। और वही प्रज्ञा तब कर्म करती है।”

—जे. कृष्णमूर्ति से कालों बोल्ड्रीनी द्वारा दिसंबर 1982 में लिया गया एक साक्षात्कार  
अनुवाद : भूमिका, शक्ति

### कॉपीराइट सूचना

जे. कृष्णमूर्ति के उद्धरण अंतर्राष्ट्रीय कॉपीराइट नियम के अंतर्गत संरक्षित हैं तथा सर्वाधिकारी की लिखित पूर्वानुमति के बिना किसी भी रूप में पुनः प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। सन् 1968 के पूर्व की कृष्णमूर्ति की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ऑफ अमेरिका, ओहायो, कैलीफोर्निया का है। सन् 1968 के बाद की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ट्रस्ट, ब्रॉकवुड पार्क, इंग्लैंड का है।

## नयी हिंदी पुस्तकें

‘जे. कृष्णमूर्ति : एक जीवनी’ मेरी लट्‌यंस कृत ‘द लाइफ एंड डेथ ऑफ कृष्णमूर्ति’ का हिंदी अनुवाद है। साथ ही ‘प्रेम क्या है? अकेलापन क्या है?’ तथा ‘आजादी की खोज’ प्रकाशित हुई हैं। इन तीनों पुस्तकों का प्रकाशन राजपाल एंड संज़ द्वारा किया गया है।

## वार्षिक गैदरिंग

के.एफ.आई. वार्षिक गैदरिंग 2013 का आयोजन इस वर्ष 21 नवंबर से 24 नवंबर तक ऋषि वैली परिसर में किया जा रहा है। थीम है ‘अटेंशन’ (अवधान)। ब्यौरे के लिए संपर्क करें:

द के.एफ.आई. गैदरिंग कमिटी, ऋषि वैली एजुकेशन सेंटर  
ऋषि वैली-417352, जिला चित्तूर (आंध्र प्रदेश)  
फोन (08571) 280622 व 280582  
ई-मेल : gathering@rishivalley.org

## दिसंबर में हिंदी रिट्रीट

‘बुनियादी बदलाव की चुनौती’ विषय को आधार लेकर कृष्णमूर्ति सेंटर, राजघाट, वाराणसी में 25 से 28 दिसंबर 2013 के मध्य एक हिंदी रिट्रीट का आयोजन किया जा रहा है। विवरण हेतु संपर्क करें:

कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर, कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया  
राजघाट फोर्ट, वाराणसी-221001  
ईमेल : kcentrevns@gmail.com फोन 0542-2441289

## कृष्णमूर्ति रिट्रीट सेंटर, उत्तरकाशी

27 फरवरी से 4 मार्च 2014 तक उत्तरकाशी सेंटर में एक रिट्रीट आयोजित की जा रही है। सहभागी होने के लिए संपर्क करें:

ई-मेल : krc.himalay@gmail.com फोन 09415983690, 09412436429

---

‘कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया’ के लिए प्रकाशक, मुद्रक प्रो. पी. कृष्णा द्वारा सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस, एस-1/208 के-1, नयी बस्ती, पांडेयपुर, वाराणसी 221 002 से मुद्रित एवं कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी 221 001 (उ.प्र.) से प्रकाशित।

संपादक : विजय छाबड़ा